1963 no3

❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ७ Year 7

अंक ३ Number 3

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहांपुर (उ०प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल
काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) 1963 NO·3 एक अंक १)

प्रकाशक— श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहांपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची—

क्र०सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१—	प्रार्थना		
२—	सम्पादकीय		२
३—	श्री रामचन्द्र मिशन की स्थापना का कारण	श्री रामदास गुप्ता तिनसुकिया (आसाम)	३ ४
४—	साधना	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़	६
५—	आत्मोन्नति के साधन	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	१४
६—	नसीहतें या शिक्षा	कु० कस्तूरी चतुर्वेदी	२२
७—	हमारा ध्येय	श्री बालकराम, सीतापुर	२६
8—	Way to peace	Sri Ram Chandra ji President	33
9—	A happy exchange	Sri Ishwar Sahai	36
10—	Beloved or lover	Sri Raghavendra Rao	41
11—	My master of this world & beyond	Ram Chandra Saxena	44
12—	Talks on efficacy of Rajyoga	Dr. K. C. Varadachari	49
13—	Universal Mission	G. Dattaraj Nartak	55
14—	Heart & Meditation	Dr. L. P. Srivastava Fatehgarh	61

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

Teachings of Sahaj Marga

1. Have firm faith in God—the One Absolute—and live in Him.
2. The two phases of life, the worldly and the divine, must go side by side, in conjunction with each other, and must be attended to without least neglect of either.
3. Take everything in the sense of duty and attend to it without any feeling of attraction or repulsion.
4. Love all beings with a spirit of service and sacrifice.
5. Give everyone his fair dues, treating him as your own.
6. Treat elders with respect and younger with affection, abiding by the general rules of ettiquette.
7. Meet adversity with resignation, banishing from the heart, feeling of anger or vengence.
8. Follow toleration and moderation in all activities of life.
9. Aim at the highest, putting in honest and sincere efforts for its achievement.

———

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठोजागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ७] शाकाब्द १८८५, सं० २०२० विक्रमी [Year 7

अङ्क ३] Year 1963 [No. 3

प्रार्थना

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

O, Master !
Thou art the real goal of human life
We are yet but slaves of wishes
putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
to living me upto that stage.

सम्पादकीय—

परम तत्व का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए समयानुसार साधना के क्षेत्र में नये नये प्रयोग होते रहे हैं। सर्वोत्तम साधना के रूप में राजयोग का भारतवर्ष में अपना विशिष्ट स्थान रहा है। किन्तु समय के प्रवाह के साथ ही दुर्भाग्यवश कुछ ऐसी राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियां आईं कि जिनके कारण आत्म चिन्तन के क्षेत्र में बौद्धिकता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्तियों का प्राबल्य होता गया। जिसके फलस्वरूप साधना का प्रयोगात्मक पक्ष लुप्त हो गया और राजयोग की साधना भी अपने मौलिक रूप को खोकर कठिन आग्राह्य एवं रूढ़ि ग्रस्त होकर प्रभाव हीन हो गई है।

हर्ष की बात है कि फतेहगढ़ निवासी महात्मा रामचन्द्र जी के स्तुत्य प्रयास से राजयोग की साधना के इतिहास का नवीन अध्याय 'सहज मार्ग' के रूप में आरम्भ हुआ। परम श्रद्धेय महात्मा रामचन्द्र जी अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन शाहजहांपुर ने अपनी जीवन व्यापी समस्त साधना से उसे नवीन उत्कर्ष प्रदान कर, जन जीवन के लिए उसे अत्यन्त सरल-सुगम एवं ग्राह्य बना दिया। 'सहज' मार्ग की अपनी कुछ विशिष्टतायें हैं जो लौकिक तथा पारमार्थिक जीवन में मंजुल सामञ्जस्य स्थापित कर खोये हुए संतुलन को पाने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हो रही है।

गत अक्टूबर नोवम्बर में आसाम के कुछ लब्ध प्रतिष्ठ महानुभावों के अनुरोध पर मिशन के अध्यक्ष पूजनीय महात्मा रामचन्द्र जी ने इस वर्ष भी आसाम तथा कलकत्ता का व्यापक दौरा किया और सहज मार्ग, के दिव्य संदेशों से वहाँ के निवासियों को लाभान्वित करते हुए 'सहज मार्ग' की साधना प्रक्रिया और उसके लक्ष्य पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला। स्थान स्थान पर वहां के निवासियों ने प्रति दिन विराट सभाओं का आयोजन किया जो उनके उत्साह और जिज्ञासा की उत्कृष्ट प्रमाण था।

श्रद्धेय बाबू जी की अंग्रेजी पुस्तक Reality at Dawn, का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है शीघ्र ही प्रेस में जा रही है। जर्मनी भाषा में भी अनुवाद लगभग हो चुका है अंग्रेजी, तामिल-तेलगू-कैनरीज, भाषाओं में छप चुकी हैं।

हमारा वार्षिक वसन्तोत्सव १९ जनवरी १९६४ को होगा। इस शुभ अवसर पर आसाम, बंगाल, तिब्बत, पंजाब, कलकत्ता, दक्षिणभारत, एवं बिहार आदि स्थानों से सत्संगी भाई बहिने पधारते हैं यह उत्सव तीन दिन (१८ जनवरी से २० जनवरी) तक मनाया जाता है।

श्री रामचन्द्र मिशन की स्थापना का कारण

(श्री रामदास गुप्ता तिनसुकिया आसाम)

प्रश्न उठता है जब हमारे देश में इतने मिशन कार्यरत हैं तब इस श्री रामचन्द्र मिशन के स्थापना की क्या आवश्यकता थी ? प्रश्न जितना ज्वलंत है उत्तर भी उतना ही प्राज्वल्य है। परन्तु उत्तर प्राप्ति के लिए इसकी स्थापना की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा।

जब भी किसी संत विचारक या मनीषी ने किसी संस्था की स्थापना की उसमें उनका सात्विक उद्देश्य जो कि समयानुकूल भी था, अवश्यनिहित रहा है। यहाँ तक कि जिन्हें हम अवतार वर्ग में लेते हैं उनके भी उद्देश्य प्राप्ति के साधन में विभिन्नता रही है। एक को हम पुरुषोत्तम राम कहते हैं दूसरे को योगेश्वर कृष्ण। योगेश्वर राम या पुरुषोत्तम कृष्ण नहीं कहते। एक ने धनुष धारण कर राक्षस बध किया धर्म एवं सुशासन की स्थापना की। दूसरे ने मुरली धारण कर माधुर्य्य बिखेरा, चक्रधारी बन आततायियों का विनाश किया। शान्ति स्थापनार्थ आवश्यक समझा तो भाई भाई में युद्ध करा अठारह अक्षोहिणी की वीराहुति कराने में भी नहीं हिचके। तात्पर्य यह कि आवश्यकता तथा समय की गति के अनुसार ही उद्देश्य व साधन प्रस्तुत किये गये। महात्मा गांधी ने पराधीनता की दयनीयता देखी, उद्धार के लिए शक्ति सन्तुलन का अभाव भी देखा। तभी उन्होंने एकता व सत्य अहिंसा

का साधन दिया। जिसके परिणाम स्वरूप ही हम अपने को स्वतन्त्र कहने के अधिकारी बने।

समय द्रुतगति से गुजरता गया आज हम सरकते सरकते राकेट युग में प्रवेश कर गये हैं। आज विज्ञान ने हमें भौतिक सुख साधन की इतनी उपलब्धियां दी है कि हम आत्मविभोर हो गये हैं। मात्र एक भौतिक वादी बन कर ही रह गये हैं प्रश्न यह उठता है कि इतनी उपलब्धियों के बाद भी क्या हम सुखी हुए। उत्तर नकारात्मक ही मिलता है।

इसका एकमात्र कारण यही है कि इन भौतिक उपलब्धियों के गलत प्रयोग ने हमारे मानसिक विकारों (कामक्रोध लोभ मोह अहंकार) की और परिपुष्टि ही की है। अधोगति ही हुई उर्ध्वगति का ध्यान ही न रहा। हमने अपनी आत्मा की पुकार की बिल्कुल ही अवहेलना कर दी। परिणामस्वरूप मनः शक्तियों का सन्तुलन-बिगड़ गया।

हम चाहते हैं हमारे परिवार का हर व्यक्ति हमारे रामायण के पात्रों जैसा कर्तव्य निष्ठ व सत्यनिष्ठ हो राष्ट्र का हर व्यक्ति सदाचारी हो। लेकिन यह चाहना सम्भव कैसे हो। हम काम चाहते हैं राम का सा और मन रखते है रावण का सा। जो कभी सम्भव नहीं। यदि हम राम सा काम चाहते हैं तो मन भी राम का सा ही रखना होगा। अतः यह हो जाता है कि लौकिक या पारलौकिक सुखी जीवन के लिए मन का सन्तुलित होना परमावश्यक है। इसी मन के असन्तुलन ने हमारे पारिवारिक जीवन को छिन्नभिन्न तथा राष्ट्रीय जीवन को अस्त व्यस्त कर दिया है।

इन्हीं गम्भीर समस्याओं के विचारक फतेहगढ़ निवासी महात्मा श्री रामचन्द्र जी हुए। वे एक सद्गृहस्थ थे। उन्होंने ग्राह-स्तिक जीवन की हर कठिनाइयों को ध्यान में रखा। जिन ऋषि महर्षियों ने गृहस्थ जीवन को आध्यात्मिक मार्ग में बाधक माना उस पर भी उन्होंने विचार किया जिसके चलते सन्यासियों तथा गृहस्थों के बीच एक गहरी खाई का भी अनुभव किया। मन के दुर्दमन के परिणाम की जानकारी के लिए इतिहास के पन्ने उलटे जिनके अनुकूल परिणाम नहीं मिले। महर्षि पाराशर व विश्वामित्र के उदाहरण उनके सामने आये। इस प्रकार वेद शास्त्रों के गहरे अध्ययन, बाद के मनीषियों के प्रयोगात्मक अनुभूति तथा विज्ञान के उत्कर्ष के परिणाम के मनन दोहन के बाद वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य के सफल जीवन तथा जीवन के चरम लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति के लिए गृहस्थ जीवन ही श्रेष्ठ एवं उपयुक्त है जिसमें सारे इन्द्रियों की परितुष्टि भी सम्भव है तथा संतुलन के उपरान्त ईश्वर प्राप्ति भी एक सद्गृहस्थ होने के नाते जीवन की व्यस्यतता से भी अनभिज्ञ नहीं थे। ऐसे व्यस्थजीवन के लिए भी कौन सा उपाय कौन सा साधन उपयुक्त हो सकता है जिससे यथाशीघ्र ईश्वर प्राप्ति की जा सके। इसके लिए उनका बराबर अन्वेषण चलता रहा। विज्ञान के अन्वेषण के परिणाम भी उनके सामने थे अतः उन्होंने अपने शोध द्वारा आध्यात्मिक क्षेत्र से भी क्रान्ति लाने की ठान ली तथा अपने प्रयत्न में सफल रहे। अन्वेषण का निष्कर्ष इस प्रकार रहा:—

लक्ष्य तथा मर्ग:—मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर-

प्राप्ति कर लयावस्था या अपनी स्थिति कायम करना ही है। इसके लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग राजयोग ही है योग के अर्थ नियम के होते हैं। ईश्वर से मिलने की बात किसी के लिए संस्थात्मक नहीं हो सकती।

सहयोग:—इस मार्ग को शीघ्र तय करने के लिए जो यान (सवारी) उन्होंने प्रस्तुत की उसका नाम Transmission रखा जिसे आप प्राणहुति कह लीजिये या शक्ति संचार कह लीजिए। शक्ति संचार कोई नई चीज नहीं है इस शक्ति का आभास श्री कृष्ण अर्जुन तथा स्वामी रामकृष्ण-विवेकानन्द प्रकरण में मिल चुका है। महर्षि व्यास द्वारा प्रदत्त शक्ति द्वारा संजय युद्ध की सारी दृश्यावली घर बैठे देखते रहे तथा महाराज धृतराष्ट्र को सुनाते रहे यह अति प्राचीन होते हुए भी इसका प्रयोगात्मक अन्वेषण बिल्कुल नवीन है तथा विकासोन्मुख भी इसी के कारण ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग जिसे अत्यन्त दुरूह समझा जाता है वह सब सहज हो गया है। इसलिए इस मार्ग को सहजमार्ग की संज्ञा दी गई।

वे अत्यन्त उदार थे। उन्होंने अपने व्यक्तिगत अन्वेषण से जो कुछ अर्जन किया उसे अपने तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि स्वनामधारी अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकारी से गुरू-दक्षिणा में यह वादा लिया कि इस रहस्य को सब पर खोल दें। जो भी व्यक्ति चाहे इससे लाभ उठाये। उसके उठाव में पूर्ण सहयोग भी दें।

उनके निर्वाण के पश्चात यह सवाल उठ खड़ा हुआ कि उनके विचारों तथा प्रयोगों का प्रसारण किस प्रकार किया जाय जो किसी भी संस्था से मेल नहीं खाते। उनकी अपनी विशेषता है जो

स्वयं में ही निहित है। अन्ततः यह निर्णय हुआ कि मिशन की स्थापना के बिना इस समस्या का समाधान सम्भव नहीं हो सकता परिणाम स्वरूप उन्हीं महात्मा रामचन्द्र के नाम पर, जिन्हें प्यार से लाला जी कहा जा रहा है श्री रामचन्द्र मिशन की स्थापना सन् १९४५ ई० में की गई है जिसका प्रमुख कार्यालय शाहजहांपुर यू० पी रक्खा गया। अब विज्ञ वर्ग इसे अच्छी तरह समझने लगा है। अतः आज श्री रामचन्द्र मिशन के सोलह सेन्टर भारतवर्ष में कार्य रत हैं जिनके द्वारा हजारों हजार लोग अपने जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पहलुओं का संतुलन रख असीम लाभ उठा रहे हैं। इस मिशन द्वारा 'सहज मार्ग' नाम की ही एक पत्रिका निकलती है जो इस मार्ग का प्रतिनिधित्व करती है। सभी विज्ञ जनों से सादर अनुरोध है कि वे सहज मार्ग की पद्धति तथा क्रिया प्रणाली को समझ कर उससे लाभ उठावें।

साधना

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

(क्रमागत)

तीन प्रकार के सुख दुख

(१) 'भूत' कहते हैं तत्व को। इन्हीं तत्वों से जो सृष्टि बनती है-चाहे वह पार्थिव (जमीनी) अथवा अपार्थिव (आसमानी) सब अधिभौतिक कहलाती है। इनके मेल से अथवा वृत्ति के इनके ऊपर स्थिर होने से जो सुख होता है वह अधिभौतिक सुख है। (तत्व चाहे सूक्ष्म हों अथवा स्थूल) और उनसे वृत्ति के बलपूर्वक हटाये जाने से दुख होता है जो अधिभौतिक अर्थात तत्व सम्बन्धी दुख है।

* १-शब्द, २-स्पर्श, ३-रूप, ४-रस और ५-गन्ध सूक्ष्म तत्व हैं। १-आकाश, २-वायु, ३-अग्नि, ४-जल और ५-पृथ्वी स्थूल तत्व हैं। जो सृष्टि इन सब से बनी हुई है वह सब की सब अधिभौतिक है।

(२) 'देव' कहते हैं कारण तत्व को। जो सूक्ष्म और स्थूल के बीच है। संस्कृत भाषा में इस शब्द के अनेक अर्थ हैं, उदाहरणार्थ देवता, राजा, देवर, बेवकूफ, लड़का, व्यवसायी, भाला-बर्छी स्पर्द्धा, खेल, ब्राह्मण और कायस्थ जाति की उपाधि, इन्द्रिय, देवी, दुर्गा, रानी, श्रेष्ठ वर्ग की स्त्री की पदवी पूजा, आदर इत्यादि। ये सब सांसारिक अर्थ हैं, वास्तविक अर्थ केवल 'खेल' है। [संस्कृत धातु = खेलना चमकना] यहाँ उसको कारण के

अर्थ दिये जाते हैं। जो रोपता है और सब में उसी का खेत और चमक है। यह स्थिरता और शान्ति की स्थिति है जिसमें आत्मा का अभिप्राय समझा जाता है। वृत्ति के इस कारण अवस्था में स्थिर होने से जो सुख होता है और वृत्ति के इस हालत से हटने से जो दुख होता है वह दोनों ही अधिदैविक कहलाये जा सकते हैं। बहुधा लोग सूर्य, चन्द्रमा, बिजली, गरज आदि के दुख को अधिदैविक दुख कहते हैं जो गलती है क्योंकि यह सब आधिभौतिक हैं।

(३) जिसमें चिन्तन और गति हो वह आत्मा है [अत्= गति, मन् = चिन्तन] यह दोनों हालतें मन में हैं, अतः वही आत्मा हुआ। उसका धर्म है सुख, दुख, ज्ञान, अज्ञान, राग, द्वेष, इच्छा प्रयत्न। यह तीन प्रकार की गति और चिन्तन से सम्बद्ध है और तीनों ही क्षेत्रों में उसकी गति और स्थिरता क्रियाशील रहती है। पहला शरीर स्थूल देह और दूसरा आत्मा (कारण) शरीर तीसरा उसका अपना आन्तरिक (उलटा हुआ प्रतिबिम्ब) = हृदय का क्षेत्र। और इन्हीं में उसी वृत्ति की धार के ठहराव, सिमटाव और हटाव के कारण सुख दुख प्रतीत होता है जिन्हें आध्यात्मिक अर्थात गति और चिन्तन के सुख दुख कहते हैं। आध्यात्मिक केवल मन की ही दशा का नाम है। जागृति का क्षेत्र शरीर पर वृत्ति के ठहराव और हटाव का मानचित्र (नक्शा) है। स्वप्न का क्षेत्र हृदय पर वृत्ति के सिमटाव और हटाव का नक्शा है। और सुषुप्ति का क्षेत्र आत्मा पर वृत्ति के ठहराव और हटाव का खेल है। यह मालूम है कि कोई व्यक्ति सुषुप्ति की दशा में सदैव नहीं रह सकता, जागृति

और स्वप्न में वापस आना पड़ता है। जब ऐसा है तो स्थायी सुख कैसे हो सकता है! तीनों ही काल के चक्र में हैं।

जहां सुख का विचार सुख की हैसियत में है वहां तो दुख के संस्कार का रहना अनिवार्य ही है। क्योंकि दोनों आपेक्षिक शब्द हैं। किन्तु यह किसी हद तक संभव है कि यदि सुषुप्ति में रहने का साधन किया जाये, और सचेत होकर उसमें वृत्ति के ठहराने का यत्न हाथ में आ जाये, और साथ ही उदासीनता अर्थात् डूबे रहना बे परवाह रहना, फनाइयत की हालत दिल में पैदा कर ली जाये तो एक ऐसी विचित्र स्थिति की अभिव्यक्ति होगी जो सुख दुख दोनों से भिन्न होगी। और सुषुप्ति से उत्थान होने और जागृति और स्वप्न में वापस आने पर वह बराबर कायम रखी जा सकती है। यही परमानन्द या परम सुख अर्थात राहते अज़ीम कहलाता है। यहाँ ज्ञान की अवस्था नितान्त अपेक्षित है। बिना ज्ञान के उसकी सम्भावना भी कठिन है। उसका हाथ आना मुश्किल और समझना भी कठिन है। किन्तु यहां एक थोड़ी सी कमी और शेष रह जाती है। यदि तनिक भी आनन्द या सुख के अनुभव करने की तमीज बाकी रह गई तो फिर दुख भी कुछ न कुछ अवश्य होगा। वैराग्य और अभ्यास द्वारा जब हृदय बिलकुल साफ हो जाता है अर्थात् सूफ़ी बन जाता है, और उस हालत में फ़ना हो जाता है तो फिर बक़ा (वास्तविक जीवन) की अभिव्यक्ति होने लगती है।

संसार सम्भावना का जगत् है। यहाँ सम्भव की सम्भावना तो हुआ ही करती है, किन्तु विचित्र बात यह है कि इस सम्भावना

के जगत् में सम्भव के होने की भी सम्भावना है।

सुषुप्ति से वापस आने पर यह मालूम है कि शरीर में ताजगी और तरी रहती है और उसका खात्मा उस समय होता है जब जागृति के कार-बार, सोच-विचार और चिन्तन ध्यान के अभ्यास में वह खर्च हो जाती है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति साधन और वैराग्य (ज्ञान) से अपने आपको नियंत्रित रखने का उपाय जान जाय तो सुषुप्ति के सुख का प्रभाव बराबर रहेगा और बेचैनी गायब हो जायगी। बहुत से ऐसे प्राणी हैं जो जानते हुए सोते है जैसे चलने वाले और युद्धभूमि में काम करने वाले घोड़े आदि अथवा मजबूती हालत में रहने वाले मनुष्य। ऐसे लोगों का सोना और जागना एक जैसा हो जाता है।

ख्वाब-बेदारीयम् शुद: एकसाँ।
अज इनायते-सोहते-पीराँ !!

(बुजुर्गों के सत्संग की कृपा से मेरी जागृति और सुषुप्ति एक जैसी हो गई)

किन्तु यह सुख भी स्थायी नहीं है इस कमी को दूर करने का उपाय तो यह है कि ब्रह्म में वृत्ति को जमाने का कुछ दिन साधन किया जाय। जब वृत्ति ब्रह्माकार होने लगेगी तो उसकी पहली हालत उत्पन्न होगी। वह ब्रह्म के रूप को समझ सकेगी। फिर उसमें भी लय होने लगेगी। इस लय अवस्था में फिर दूसरी हालत आनन्द की पैदा होगी। और जब जीव और ब्रह्म का भेद न रहेगा तब दुखों की समाप्ति हो जायगी। फिर वृत्ति के उत्थान का भय समाप्त हो जायगा—बूंद और समुद्र मिलकर एक हो जायेंगे।

ब्रह्मानन्द

मानव जीवन का आदर्श और इष्ट केवल परमानन्द की प्राप्ति है। ब्रह्मानन्द ही परमानन्द होता है।

कस अस्तित्व की अभिव्यक्ति का साधन है और वास्तविक अस्तित्व वही है जो निष्काम कर्म के सिलसिले में अपनी अभिव्यक्ति करता है। ज्ञान अस्तित्व की समझ और उसकी असलियत का इल्म हासिल करने का साधन है। और अस्तित्व का सच्चा ज्ञान वही है जो वाचिक अर्थात् जबानी न हो बल्कि यथार्थ या यकीनी हो। और उपासना अस्तित्व का सुख प्राप्त करने का साधन है। और वह इस प्रकार का हो कि उसमें लय अवस्था आए और दुख का अनुभव तक न हो।

ब्रह्म और जीव सिद्धान्ततः तो एक ही हैं। जो परमात्मा है वही जीवात्मा भी है। आत्मा आत्मा एक हैं। ब्रह्म ने को अलग कर दो इधर से जीवपने के गुण को हटा दो तो उसकी एक असलियत रहेगी, और वह असलियत ही गति और चिन्तन है। आत्मा अत् (गति) और मनन चिन्तन है, और ब्रह्मन् ब्र (वृद्धि) और मनन् (चिन्तन) है। यह उनकी हैसियत है। गति और वृद्धि का एक ही अभिप्राय है, केवल पैमाने का भेद है। जैसे ब्रह्म का जगत् है, वैसे जीव का भी जगत् है। केवल छोटाई-बड़ाई, अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का भेद है। दोनों ही अपनी २ दुनिया बनाते और बिगाड़ते रहते हैं। जीव की भांति ब्रह्म भी जागता और सोता रहता है, और सुषुप्ति में जाता है, जैसा कि विश्व, तेजस्, प्राज्ञ, (जीव लक्षण) और विराट्, अन्तर्यामी या अव्याकृत और हिरण्यगर्भ ब्रह्म लक्षण के नामों से स्पष्ट है।

जब ब्रह्म में वृत्ति स्थिर होगी तब जीव को ब्रह्म का ज्ञान भी होगा, क्योंकि वृत्ति की ही अनुरूपता, सम्बन्ध और एकसानियत से ही ज्ञान होता है। और यही ज्ञान ब्रह्मानन्द में परिवर्तन होगा। और जब यह ज्ञान आ जायगा, तब फिर वृत्ति के बैठने और सिमटने का विचार तक जाता रहेगा। और उसे सुख ही सुख होगा, और वह ब्रह्म से एक होता हुआ बूंद और समुद्र की भाँति मिला हुआ लहराता रहेगा। उसमें फिर नाम के लिए भी दुःख न रहेगा, क्योंकि ब्रह्म में दुःख नहीं है। दुःख अंश में होता है, पूर्ण में नहीं होता है।

[अगले अङ्क से इस लेख के बाद का लेख क्रमशः प्रकाशित होना प्रारम्भ होगा]

आत्मोन्नति के साधन

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

आज मैं आपके सन्मुख 'सहज-मार्ग' की विशेषता के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। हमारे यहां की साधना-प्रणाली अति सरल एवं साधारण है जिसमें न तो कोई बाह्य-आडम्बर है और न कोई कठिन शारीरिक क्रियायें एवं अप्राकृतिक-पाबन्दियां ही हैं। ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग केवल एक ही है और वह 'राजयोग' है जिसका मुख्य अंग 'ध्यान' है, तथा यह एक ही साधना आरंभ से लेकर अन्त तक चली जाती है। इसके द्वारा ही मनुष्य आत्मिक-उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुँच जाता है। यह बात

तो नितान्त आवश्यक है ही कि ध्यान ठीक प्रकार से जैसा कि बताया जाता है वैसे ही होना चाहिये। अक्सर लोग किताबों में पढ़कर या अयोग्य गुरुओं के बताने पर अभ्यास करने लगते हैं इससे लाभ के स्थान पर दिनों दिन खराब एवं 'लक्ष्य' से दूर होते चले जाते हैं। साधना वही उपयोगी हो सकती है जो हमारी मानसिक-वृत्तियों को शान्त करते हुए हमारे अन्दर शान्ति, सरलता एवं सूक्ष्मता प्रदान करे।

एक कठिनाई और भी आजाती है कि हमारा मन अस्थिर होने के कारण बाधा डालता है। अभ्यासी को इसका तजुर्बा केवल अभ्यास करने पर ही हो सकता है कि 'सहज-मार्ग' द्वारा कितनी जल्दी हम उस अस्थिर-अवस्था से अलग होते हुये उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं। एवं आध्यात्मिकता के चटियल-मैदान में हमारी रफ्तार कितनी तेज हो जाती है। हजारों वर्षों में जब कभी समय आता है और (युग) समय को आवश्यकता पड़ती है तभी किसी ऐसी महान्-शक्ति द्वारा हमें ऐसी महान साधना, एवं प्राणाहुति प्राप्त हो पाती है। समय बदलने के साथ हम इस योगिक-प्रणाली 'प्राणाहुति' को भूल गये। पूर्वजों की इस पवित्र चीज को ऐसा भुला दिया कि यदि किसी ने इस शक्ति का प्रयोग भी किया तो सब उसे मिसमिरेजम, अथवा हिप्नोटिज्म ही कहने लगे। बात यही हुई कि हम स्वयं इस हद तक गिर गये कि हमने ऐसी अनुपम एवं पवित्र चीज की वास्तविकता एवं सचाई को ऐसा भुला दिया कि हममें रंग और लाल की तमीज भी बाकी न रही। किन्तु ईश्वर अब वह समय अवश्य लाया कि लोग आध्यात्मिक

प्रणाली की नई खोज से लाभ उठावें। यह अवश्य है कि इस ब्रह्म विद्या के सीखने वाले भी कम हैं और बताने वाले उससे भी कम क्योंकि यह चीज इतनी हल्की एवं सहज, सुगम है कि लोगों की समझ में नहीं आपाती। किन्तु उनको मालूम होना चाहिये कि ईश्वर किस कदर सूक्ष्म एवं सहज, सुगम है इसलिये 'उसको' प्राप्त कर पाने के लिये हमको वैसे ही सीधे, सादे तरीके अपनाना चाहिये एवं वैसा ही बनना चाहिये। जब तक हम अपनी आँखें वैसी ही न बना लेंगे तब तक हम उस सादी, शुद्ध एवं मासूम-हालत तक पहुँचकर ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते। इस संस्था में यही चीज अभ्यासी के अभ्यास से तथा प्राणाहुति द्वारा उसके अंदर उत्पन्न होने लगती है जिसका अनुभव समझदार तथा अनुभवी पुरुष बहुत जल्द कर सकते हैं। परन्तु यह सब चीजें हर युग और समय में केवल उन्हीं लोगों को दी जाती थीं जिनको इसका पात्र समझा जाता था। परन्तु अब जमाना बदल गया है। अब अगर इत्तफाक से कोई प्राणशक्ति देने वाला अच्छा भी मिल जाय तो जब तक कि वह कोई miracle चमत्कार न दिखा सके लोग उस पर एतबार नहीं करते। हालांकि एक राजयोगी जो वाकई अच्छा प्राणशक्ति देने वाला है miracle (चमत्कार) दिखा सकता है मगर तजर्बा इस बात को सिद्ध करता है कि चमत्कार दिखाने से इस चीज में उन्नति नहीं हुई।

हमारी निगाह वास्तविक ध्येय पर होना चाहिए। चमत्कार तो वास्तव में इतनी छोटी चीज है कि यदि कोई गौर करे तो हर शख्स को अक्सर खुद-ब-खुद होते मालूम होते हैं और ऐसे किस्से भी बहुत हैं। एक किस्सा सुनाता हूँ:—

एक महात्मा दरिया की सतह पर पल्थी मार कर बैठ गये और जरा सी देर में दरिया पार कर गये। वह स्वयं पानी की सतह पर ही रहे। एक आदमी जो नाव पर था उसने नाव के द्वारा नदी को पार किया। जब वे महात्मा किनारे पर पहुँचे वे सज्जन भी नाव से किनारे पर उतरे तो महात्मा ने कहा कि मैंने कितनी जल्दी और कैसे नदी पार कर ली और तुम्हें नाव और मल्लाह का सहारा लेना पड़ा। उसने कितना सुन्दर उत्तर दिया कि इसका मूल्य केवल दो पैसे है। इस भव-सागर को पार करने के लिये तथा सकुशल किनारे पर पहुँचने के लिये वाकई नाव और मल्लाह की आवश्यकता है।

ध्येय-प्राप्ति के लिये भिन्न २ उपाय हो सकते हैं किन्तु हमें उन उपायों को ग्रहण करना चाहिये जिसमें सफलता निश्चित हो। अब सोचना यह है कि कौन सा उपाय अथवा साधन सबसे अच्छा और प्रभावशाली हो सकता है। इसलिये शायद लोगों को विश्वास न हो तो मैं स्वामी विवेकानन्द जी का उदाहरण सामने रखता हूं। उनका कथन है कि "राजयोग ही अभ्यासी को ध्रुव तक पहुँचा सकता है। हठयोग को राजयोग तक पहुँचाने का सोपान कहा गया है। हठयोग की चाल केवल आज्ञा-चक्र तक ही है उसके आगे उसकी गुजर नहीं"। स्वामी विवेकानन्द ने यह भी कहा है कि "रोशनी उस गुरू से लेनी चाहिये जिसमें प्राण-शक्ति प्रदान कर सकने की शक्ति हो"। एक बात ध्यान देने योग्य है कि जब हम हठयोग की क्रियायें प्रारम्भ करते हैं जिनका सम्बन्ध

बहुत कुछ शरीर से है उस समय हमको यह ध्यान रहता है कि हम अमुक क्रिया कर रहे हैं इसलिये कि शारीरिक-तोड़ मरोड़ जो इसमें आवश्यक है अहम् के ख्याल को और बढ़ा देती है। गोया अहंता बजाय जाने के और बढ़ जाती है। मगर राजयोग में यह चीज नहीं होती। हम सूक्ष्म से सूक्ष्म चीज इसमें लेते हैं जिसमें हमारी चित्त की वृत्तियों का निरोध होने लगता है दूसरे मानों में जब हम इस अभ्यास को करते हैं उस समय शरीर का भान हमको होता ही नहीं और होता भी है तो बहुत कम इसलिये कि हमारे चित्त की वृत्तियां बहुत सूक्ष्म ख्याल बांधे हुये होती हैं। पतंजलि ने अपने सबसे पहले सूत्र में योग की तारीफ में कहा है-चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना। एक आम गलती जो यह हो रही है कि जो लोग चित्त की वृत्ति के निरोध में लगते हैं तो वह इसी ख्याल को लेकर निरोध शुरू कर देते हैं गोया उनकी दौड़ एक छोटे से दायरे में ही रहती है और वृत्तियों से उनकी खींचातानी शुरू हो जाती है जिससे दिमाग पर अक्सर असर पड़ जाता है और ऐसा करने वाले लोग अक्सर वैसे ही रह जाते हैं। बजाय वृत्तियों के लड़ने से यदि हमारी निगाह में केवल ध्येय की प्राप्ति हो रहे तो हर कदम पर कामयाबी ही होती चलेगी। अपने आप करने से इन्सान बहुत कुछ बन जाता है और यदि कहीं किसी प्राणशक्ति देने वाले की मदद ले ली तो मैं तो यही कहूँगा कि वर्षों का काम मिनटों में हो सकता है। प्राणशक्ति द्वारा चित्त की वृत्तियों को निरोध करने का एक तरीका लिखता हूँ:—

अच्छा प्राण आहुति देने वाला अपनी इच्छा-शक्ति से

प्राणाहुति के द्वारा मन की चंचलता जो हमें संसार की ओर ले जा रही है उसका रुख ऊपर की ओर कर देता है जिसका फल यह होता है कि हमारी वृत्तियाँ बहुत जल्द अपने फैलाव को समाप्त कर देती हैं और निश्चलता आने लगती है। जब हमारी चित्त की वृत्ति का निरोध हो जाता है यानी हमारा मन अपनी असली दशा में जब चिमट जाता है तो बिना जाने-बूझे हुये हमारा ध्यान उसी मन में कायम रहता है और उसका चरित्र निरखने लगता है और यह ब्रह्म की सबसे नीची गति होती है। जब ध्यान द्वारा यह चीज सिद्ध हो जाती है तो यह परदा भी हट जाता है और हम उसकी अन्दर वाली गति में चले जाते हैं और इसी तरीके से हम अन्तर्मुखी बनते चले जाते हैं और अपनी ही खोज शुरू हो जाती है। सहजमार्ग में हम यह करते हैं कि एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और इसी तरह से एक-एक करके हर चक्र को प्राणाहुति द्वारा शुद्ध करते चलते हैं जिससे कि हमें आगे पहुँचने में मदद मिलती जाती है और हमारी रफ्तार तेज होती जाती है हर चक्र के विषय में हमें यह जानकारी होती जाती है कि उनका भाग आध्यात्मिक क्षेत्र में क्या है और कौन सी शक्ति इनमें मौजूद है।

एक बात मुमकिन है कि लोगों को अचम्भे में डाल दे। मनुष्य की शक्ति के ऊपर निर्भर है कि जिस चीज को वह अपनी हद के अंदर ले आवे। यह सब कहते हैं कि प्रकृति की शक्ति असीमित है मगर मैं यह कहूँगा कि 'सीमा' शब्द की ईजाद उस समय हुई जबकि मनुष्य की निगाह किसी दायरे के हदसे बाहर नहीं

गई। उसने समझ लिया कि भाई हमारी शक्ति सीमा-बद्ध है। जब हमारी ताकत का सवाल हुआ और अपनी शक्ति सीमित समझी तो स्वाभाविक तौर पर दूसरे का लक्ष्य हमारे दिल में उठ खड़ा हुआ। यानी इससे कोई चीज ऊँची अवश्य है जो इस सीमा के बाद होगी यानी जिसकी शक्ति असीमित होगी। गैरियत का ख्याल जब हमारी तबियत में पैदा हुआ यानी जब तबियत में तंगी आई तो हमने भी अपना दायरा तंग समझ लिया। अगर यह चीज कहीं निगाह मे उठ जावे यानी सीमा-बद्ध होने का ख्याल जाता रहे तो लाजमी भी है कि किसी समय यह चीज भी हो सकती है कि हमारे दिल से असीमित होने का भी ख्याल जाता रहे। जब हद और बेहद का ख्याल हमारी तबियत और दिल से निकल जाताहै तो गोया अब हममें कोई हदनहीं रही। गोया हमने अपना सम्बन्ध उस चीज से जोड़ लिया है कि जो हद और बेहद दोनों से परे है। जब यह हालत हुई और कहीं इस हालत का पहुँचा हुआ प्राणाहुति देने वाला मिल गया तो वह चीजें जो अजीब और असंभव मालूम होती हैं सम्भव हो जावेंगी। अगर कोई व्यक्ति ऐसा है कि उसको liberation (पूर्णता) की हालत में डाल दें तो सहज-मार्ग का तरीका यह है कि उसकी रूह को अपने वतन (घर) की तरफ यानी जहाँ कि उसका असल भंडार है फेर दें और यह चीज इच्छा-शक्ति से पैदा कर दें कि जब इसका अंत समय होगा, उस समय वह ऐसी हालत पर आजावेगा कि रूह अपने असल भंडार में पहुँच जावे। धीरे-धीरे यह चीज खुलती रहेगी और अंत में उसका liberation (मोक्ष) होगा। मैं डंके की चोट

कह सकता हूँ कि यह चीज अच्छे प्राण-शक्ति देने वाले के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता और जब किसी की उन्नति होगी, योग मार्ग पर चलने ही से हो सकेगी और Spiritual Giants (आध्यात्मिक धुरन्धर) इसी से पैदा हो सकते हैं और कोई तरीका नहीं हो सकता।

मजमून बहुत तूल हो जायगा इसलिये इसको अधिक बढ़ाना नहीं चाहता और उससे कुछ फायदा भी नहीं। ज्ञान प्राप्त करने के लिये किताबें बहुत मिल सकती हैं मगर अच्छा प्राण-शक्ति देने वाला तभी मिल सकता है जब कि किसी की किस्मत में मोक्ष बदी हो और उसकी तबियत भी ऐसी बन जावे यानी उसको मोक्ष प्राप्त करने का शौक भी हो।

इस मिशन का जो ध्येय है वह ईश्वर-प्राप्ति सरल से सरल तरीके से करा देने का है जो केवल प्राणाहुति द्वारा ही हो सकती है। मैं चाहता भी यही हूँ कि बहुत से प्राण-शक्ति देने वाले पैदा हो जावें। यहां तक कि हर मोहल्ले में एक हो ताकि यह चीज तरक्की करे और रास्ता आसान हो जावे।

सहीहल या शिक्षा

(कु० कस्तूरी चतुर्वेदी)

(वर्ष ७ अंक २ से आगे)

सहज मार्ग शिक्षा के लिये न तो कोई आधा ही तैयार की जा सकती है और न इसे लिपिबद्ध किया जा सकता है। वेदों दिव्य एवं अनोखी तो आध्यात्मिक-शिक्षा ही है। वह परम-विद्या जिसके द्वारा यह अलौकिक शिक्षा प्राप्त होती है वही ब्रह्म-विद्या है। जिसका प्रारम्भ एवं अन्त दोनों 'स्व' अर्थात् स्वयं से ही होना है। ब्रह्म-विद्या में बैठने की गति अहं-ब्रह्मास्मि के आनन्द से ही प्रारम्भ होती है एवं इसका छोर इस गति में बैठकर उसे पूर्ण-तयः विस्मृत हो पाने पर ही मिल पाता है। पूर्ण ब्रह्म-गति की प्राप्ति का अनुभव तभी प्राप्त हो पाता है जबकि 'ब्रह्मास्मि' के आगे से शब्द अहं को निकाल दिया जाता है क्योंकि यह अहं वह ज्योति है जो द्वैत को प्रकाश देती है एवं जिस प्रकाश में हमारी आध्यात्मिक शिक्षा अधूरी एवं बिखरी बिखरी सी रहती है। कहते हैं बूंद बूंद से भरा समुद्र भी खारा ही रहता है। तिनका तिनका जोड़ कर निर्माण किये गगन चुम्बी-प्रासाद के भी ढह जाने की सदैव संभावना ही बनी रहती है उसी प्रकार आध्यात्मिक-शिक्षा में अहं के दीपक की छोटी सी लौ भी विनाशकारी ही सिद्ध हो सकती है छान्दोपनिषद में एक कथा आती है कि:-अवर्णऋषि के केवल एक ही पुत्र था। वह बारह वर्ष का हो गया किन्तु कुछ पढ़ता न था। एक दिन ऋषि ने समझा धमकाकर उसे विद्यालय के

लिये भेज दिया। कुशाग्रबुद्धि बालक बारह वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् पूर्णाध्ययन कर घर लौटे तो विद्वत्ता के गर्व में पिता को प्रणाम भी नहीं किया। महर्षि उसके गर्व को समझ गये। कुछ दिनों बाद पुत्र को बुलाकर उन्होंने पूछा कि वेदा जो सुनते हुये भी कुछ नहीं सुनता, खाते हुए भी कुछ नहीं खाता, जानते हुये भी कुछ नहीं जानता ऐसी विद्या जो जानता है उस जैसा विद्वान कोई नहीं। जो विद्या बिना पढ़े ही पढ़ ली जाती है उसे पढ़कर फिर कुछ पढ़ना शेष नहीं रह जाता है ? क्या तुमने वह विद्या प्राप्त कर ली है ? इस पर पुत्र ने पिता के चरण पकड़ लिये। बस वास्तव में यही एक ऐसी शिक्षा है जो बिना जताये स्वतः ही सद्गुरु की प्राण शक्ति द्वारा अंतर में प्रवाहित होकर हमारा उद्धार कर देती है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि ऐसी शिक्षा हमें कहाँ, कैसे एवं किससे प्राप्त हो सकती है ? वह सद्गुरु रूपी पारस-पाषाण हमें कब और कहाँ मिल सकता है कि जिसका स्पर्श कर हम पावन एवं धन्य होकर महान बन जाते हैं। हमें वह सभी विद्या प्राप्त हो जाती है जिसका ज्ञान न हमें था, न है और न कभी हो सकता है। यदि हम उसे जान भी लेते तो वह होश हमें कौन देता जिससे इस जाने हुये ज्ञान को हम सहेज लेते। वह भी तो हमें सद्गुरु की ओर से प्रदान की हुई शिक्षा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। और यह परम प्रियतम 'मालिक' की देन तड़प या प्रेम है। हाँ जब दृष्टि के दर्पण में वह ही वह उभरा रहता है तब फिर वह दर्द न रहकर सब भौतिक दुःख, द्वन्द्वों की स्वयं दवा बन जाता

है क्योंकि दर्पण स्वयं अपना मुख नहीं देख सकता। तड़प हमें सदैव सजग रखती है सतत्-स्मरण के प्रति। प्रेम की अवस्था का किसी सीमा तक पहुंच जाने का नाम ही तड़प है। जिसके प्राप्त हो जाने पर हमारे परम पूज्य 'श्री बाबू जी महाराज' के कथनानुसार तड़प अपना रास्ता स्वयं टटोल लेती है प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। फिर ईश्वर-प्राप्ति अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में कुछ भी प्राप्त कर लेना असंभव नहीं रह जाता। ईश्वरीय-धारा को अनवरत निर्झरिणी खोज लाने वाली वास्तविक नसीहत यही है हमारी सुरति रूपी धागे को अपने उद्गम तक पहुंचाकर उस स्वयं प्रभावित श्रेष्ठ शिक्षा के वृत्त में प्रवाहित कर देता है कि जहाँ शिक्षा एवं शिक्षक, सद्गुरु एवं शिष्य के मध्य का भेद मिटाकर सारी मिलौनियाँ बह कर समाप्त हो जाती हैं। आज चारों ओर से स्वतंत्रता की पुकार आ रही है। स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है वह हमें मिलना चाहिये यह संसार में स्वतंत्रता की माँग है किन्तु कोई प्रतिपल हाथ उठाकर हमें स्वतंत्रता की राह दिखाकर प्रतिक्षण अपनी वात्सल्यमयी गोद में सुला लेने के लिये अधीर है उधर हम नहीं देखते, उस अन्तर की आवाज की ओर हम ध्यान नहीं देते कि हम अपनी बेड़ी स्वयं काटकर क्यों न स्वतंत्र हो जायें। हमें स्वतंत्र कर पाने वाला दूसरा है ही कौन ? हमीं के लघु-वृत्त से मुक्ति पा जाना ही वास्तविक स्वतंत्रता है। स्वयं को स्वयं के घेरे में बन्दी बनाकर परतंत्रता की बेड़ी से जकड़कर स्वतंत्रता का नारा देना कैसी हास्यास्पद बात है। सद्गुरु हमारे जन्म सिद्ध का पूरक-प्रतीक है। 'उसकी' कृपा से ही हमें वह दिव्य शिक्षा मिलती

है जो हमें स्वतंत्रता के संग्राम में विजय-माल पहना सकती है। हम उस समय तक स्वतंत्र नहीं हो सकते जब तक कि गुलामी का तौंक हमारे गले पड़ाहुआ है। यह तो उसी बड़भागी को प्राप्त होती है जो बिना दामों किसी के हाथों बिक चुका होता है। हम यह कह सकते हैं कि किसी के हाथों बिका तो दास ही रहेगा किन्तु आध्यात्मिक-शिक्षा का परिणाम तो भिन्न ही होता है। क्योंकि इस अवस्था में पहुंचकर तब दास दास नहीं वरन् प्रियतम मालिक का खरीदार बन चुका होता है। प्रकृति तब उसके हाथों का खिलौना बन जाती है। कुल आध्यात्मिक-क्षेत्र उसकी मुट्ठी में हो जाता है और स्वयं उसकी मुट्ठियां सदैव के लिये फैली रह जाती हैं। ऐसी स्वतंत्रता हमें तभी प्राप्त होती है जहां द्यौस का अवसान हो जाता है एवं रात्रि नेत्र मूंदे ध्यानावस्थित हो रहती है क्योंकि तब वह भी सहज-मार्ग की सहगामिनी होकर राजयोगिनी हो जाती है। तब बिन्दु से बिन्दु मिलकर एक हो जाता है। तब एक सिरे से दूसरा सिरा जुड़कर हम आवागमन के विशद-सागर का उलंघन कर अनवरत, अचेतन आनन्द में विलीन हो जाते हैं। ऐसी आध्यात्मिक-शिक्षा का माध्यम सदाचार होता है एवं उद्देश्य लक्ष्य की प्राप्ति होती है। वास्तविक बाह्य शिक्षा भी वही कही जा सकती है जो हमको खुदी से खोये हुये तक पहुंचाकर उसकी प्रतीति करा देवे एवं उसको पूर्णतयः प्राप्त कर लेने के लिये प्रतिक्षण अपने को सजग रखने की आवश्यकता होती है। तब वह वात्सल्यमयी निर्झरिणी 'ईश्वर' अथवा सद्गुरु रूपी माँ जिसके रंध्र रंध्र में पैठ गई है वह विह्वल-हृदय, वह पलकित निःशब्द, आत्म-विमूढ़

मुखमंडल उसको क्या फिर किसी से मांगना या पाना शेष रह जाता है ? उसकी उस आत्म-विस्मृति में वास्तविकता या सत्यावस्था, मिलन अथवा संयोग, निर्वाण एवं अभेदावस्था का समावेश हो जाता है। तब संसार में वह ऐसे वापस भेजा जाता है कि:-

"शिलाखंड में बैठि हम निज हिय-लोचन चीर,
देखि रहे जगमग चलत इन पंथिन की भीर"।

किन्तु ऐसी प्रगाढ़ अवस्था का प्रारम्भ कब होता है जबऐसी अल्हड़ पूर्ण-लाग हमारे दिल से लग जाती है कि हमारे दीवाने, विस्मृति से नेत्र 'उसी' के आलोकित मुख की ओर दौड़ पड़ते हैं। तब फिर वह जीवनमुक्त, बड़भागी स्वयं तो धन्य होता ही है बल्कि पावन- ईश्वरीय शक्ति से ओत-प्रोत उसके सम्पर्क का दूसरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने लगता है क्योंकि प्रियतम सद्गुरु की व्यापक-दृष्टि अंतर से अन्तरतम के सूक्ष्म दोषों को भी ढूंढ़कर भस्म करके हमें भी पारस बना देती है।

अब यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के स्वतः परिश्रम का महत्त्व अत्यन्त होता है यह सत्य है किन्तु अथवा परिश्रम द्वारा आकाश को पृथ्वीतल पर भले ही लाया जासके किन्तु सत्यता को सजीवता प्रदान कर सकने वाली एवं सर्वव्यापी 'राम' को प्रत्यक्ष कर पाने के लिये हमें सद्गुरु के अवलम्बन एवं शिक्षा की प्रतिक्षण आवश्यकता रहती है। यह सत्य है कि स्नेह में भावना साकार हो उठती है किन्तु यदि हमें समर्थ सद्गुरु की पावन प्राण-शक्ति रूपी शिक्षा न मिल सकी तो हमारे सारे गुण, सारी भावना ऐसी समझना चाहिये जैसे स्पर्धा की छाँह में नेह की दुग्ध-स्वच्छता

हमें कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। कहते हैं कि मनुष्य की भावना फूल से भी अधिक नाजुक होती है जो जरा सी ठेस लगते ही चूर हो जाती है किन्तु सद्गुरु के हृदय-रूपी सागर में मन का सौंदन करने पर उस पर से मलिनता रूपी दाग दूर होकर मानव-जीवन रूपी गुदड़ी का भाग्य उज्ज्वल हो जाता है और तब हमारी वह नाजुक भावना सुदृढ़ एवं साकार इच्छा-शक्ति के रूप में होकर संसार में महान् कार्य कर जाती है। बाह्य-साधनों द्वारा बुद्धि भले ही विकसित हो सकती है किन्तु आध्यात्मिकता नहीं। आत्मा की आवाज, आत्मा की बात एवं संदेश उन्हें बाह्यसाधनों एवं क्रियाओं द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है वह तो एक आत्मा को दूसरी आत्मा से सम्बन्ध एवं शिक्षा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जहां से यह संवाद अथवा सदेश हमें मिलते हैं वही गुरु है एवं जहां पर एवं जिसके द्वारा वह संदेश या सवाद ग्रहण किया जाता है वही शिष्य है। आध्यात्मिक ईश्वरीय-मिलन के क्षेत्र में समर्पण ही हमारी आत्मा होती है एवं 'ईश्वर' की खोज अथवा उसको अभिमुख करने में विचारों की जो योजना हम बनाते हैं वही विचारों का ईश्वर के अर्पण करना हो जाता है। तब वही विकारों रहित विचार संसार को नष्ट करके सर्वोत्तम-ईश्वर से जोड़ देने की एक कड़ी बन जाती है और हमें आत्म-विस्मृत सा यह गुनगुनाते छोड़ जाती है कि:—

"क्या गाऊं, क्या भजन करूं मैं, मोसे अब कुछ कहा न जाये,
एक गया, दूजा गया, दरिया लहर समाये"।

तब अपनी व्यथा कह सकने के लिये कोई दूसरा दृष्टि में ही नहीं आता क्योंकि जो हमारे उर में पैठा स्वयं ही हमसे खेलता

और हमें मिलाता है वही प्रियतम सर्वव्यापी होने पर भी कभी अपने मिलन का अविरल-आनन्द और कभी वियोग की पीड़ा उर में भर देता है। हमारी निजात्मा से बासंती-बयार में बहती तब हर समय ऐसी ही पुकार आती है। हमारे अन्तर में प्रवाहित स्वयं की शिक्षा हमारे अन्तर में पुनः २ ऐसी ही कुरेदना भर जाती है कि:—"उठो, जागो और तब तक चैन न लो जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाये"। सारी विद्या, सारी शिक्षा यहीं नष्ट हो जाती है किन्तु आध्यात्मिक-सद्गुरु-शिक्षा हमें सदैव के लिये बन्धन से मुक्ति दिला जाती है। सद्गुरु के मिल जाने पर नन्हें, अबोध, शिशु की भांति 'उसके' हृदय से सटे रहें यही पूर्ण शिक्षा है जो खुद को दी जाती है पूर्णता प्राप्त कर पाने के लिये। कहते हैं चन्द्रमा कलंक अपने पास रखकर संसार को प्रकाश प्रदान करता है किन्तु सच्चा सद्गुरु तो अपने जनों के, अपने भोले बालकों के जन्म-जन्मान्तरों से एकत्रित कलंक (पाप, ताप) सब अपने में समेट कर बदले में उसके उर अन्तर को ईश्वरीय-प्रकाश से भर देता है। स्वयं उनके पाप, तापों का भार लेकर उनसे पीड़ित होता हुआ भी अपने बालकों को अपनी अलौकिक-प्राण-शक्ति द्वारा शीतल, विशुद्ध ईश्वरीय-धारा रूपी गंगाजल से निर्मल कर देता है। यही सद्गुरु' की अलौकिक प्रीति की रीति होती है।

अन्तर में जगी प्रियतम मालिक सद्गुरु की तवज्जोह की हर आवाज एक नसीहत लिये होती है। 'उसकी' हर झिड़की में उस नसीहत की अग्नि होती है जो हमारे सभी बाह्य-आडम्बरों को जलाकर राख कर देती है। 'उसकी' हर मधुर मुस्कान हमारे

लिये पुनः २ नवजीवन की नसीहत लाती है और उसकी पुनः पुनः हमसे छुपती मुस्कान हमें 'उसके' मिलन के आनन्द से भी बढ़कर भी मूल्यवाले वियोग की ज्वाला को पी जाने की शक्ति एवं शिक्षा प्रदान करती है। 'उसका' अपने शीश पर रक्खा वरद्-हस्त जहाँ हमें ईश्वरीय-धारा में पगी विभोरावस्था में खोये अपार आनन्द का अनुभव प्रदान करता है वहीं हमें यह भी अनुभव-गम्य हो जाता है कि "शिक्षा अथवा नसीहत अच्छी चीज है अगर वह खुद को दीजावे"।

अनुभव-गम्य आध्यात्मिक-शिक्षा के इसी अन्तिम पृष्ट में पैठकर बहुधा मौन, व्यथित किन्तु विस्मृत अवस्था में हम कराह उठते हैं कि:—

'अल्लाह बेखुदी में तेरे पास बैठकर,
तेरा ही इन्तजार किया है कभी कभी"।

इसके पश्चात् ?

जो होता हो सो होता हो ... ...
मेरे 'मालिक' जाने ॥

हमारा ध्येय

(ले० बालकराम सीतापुर)

पानी केरा बुद बुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा प्रभात॥

उपरोक्त कथन के अनुसार मनुष्य का जीवन क्षण भंगुर है। इसका कोई ठिकाना नहीं। मालूम नहीं अगला पैर आगे

पड़ेगा। जिह्वा चलेगी या नहीं। यह शरीर चेतन अवस्था में रहेगा या नहीं। किस क्षण अकस्मात इस संसार से उठ जाना पड़ेगा। लेकिन मनुष्य इस माया के प्रपंच में ऐसा पड़ा है कि उसे इस संसार से जाने की कोई बात स्मरण नहीं रहती। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे यहां युग युगान्तर रहना है। सारा जीवन आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा देता है एवं धन धान्य परिवार को देखकर मुदित होता रहता है। यह अनुभव ही नहीं करता कि जगत काल का चबेना है। माया के प्रपंच में पड़े झूठे सुखों को ही सच्चा सुख समझ लेता है। जैसा कि महात्मा कबीर जी ने कहा है:-

झूठे सुख को सुख कहें मानत है मनमोद।
जगत चबेना काल का कुछ मुख में कुछ गोद॥

मानव को चेतना प्रदान करने के लिए समय समय पर ईश्वरीय संदेश मिलता रहता है कि संसार नाशवान है शरीर नश्वर है। कभी कोई अपने राज वैभव को छोड़कर इस संसार से जाता है कभी कोई आपदाओं के अपार सागर में गोते लगाता दृष्टिगोचर होता है और अपने जीने पर दुःख प्रगट करता है, कभी सत्संग से, कभी संतों की वाणी से कभी सद्ग्रन्थों से, ईश्वरीय संदेश मिलकर मस्तिष्क में एक अजीब उलझन पैदा हो जाती है। और उपरोक्त कथन सत्य प्रतीत होने लगता है कि:-

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात।

ऐसे वातावरण में पड़ते ही मनुष्य विह्वल हो उठता है और ईश्वर को पाने के लिए विकल हो जाता है। लेकिन दशा स्थाई नहीं रह पाती कुछ क्षण के उपरान्त इसे भुलाकर वह फिर

अपने सांसारिक कार्यों में प्रवृत हो जाता है ईश्वर की प्राप्ति की जिज्ञासा रखते हुये भी वह अपने प्रयत्न से उसे प्राप्त नहीं कर पाता है। उसके आध्यात्मिक मार्ग में प्रारम्भ में ही अनेकों अड़चनें आती हैं जिनसे वह अनभिज्ञ है इस लिए हताश हो जाता है। जिस किसी को इसके समाधान के लिए ढूंढता है तो अक्सर ऐसे मिलते हैं जो अच्छे व्याख्यान दे सकते हैं। वेद की बातें बता सकते हैं अन्न बिना खाये काफी दिनों रह सकते हैं। उन्हें आध्यात्मिक अनुभव कुछ भी नहीं! ऐसे उपदेशक अनेकों मिलेंगे क्योंकि आजकल गुरुओं की भर मार है। प्रत्येक मनुष्य गुरु बना हुआ है। कोई शिष्य बनना नहीं चाहता गुरु बनना अत्यधिक सरल हो गया है। गेरुये कपड़े पहन लिए, चन्दन लगा लिया मृग छाला ले ली। कुछ मन्त्र याद कर लिये। और बन गये गुरू। जब इस तरह के गुरु मनुष्यों को मिल जाते हैं तो अपना अत्याधिक प्रभाव जमाने के कारण कठिन से कठिन यौगिक क्रियायें बताते हैं जो प्रायः प्रत्येक के लिये करना असम्भव है। और स्वयं इसका अन्तिम परिणाम भी नहीं जानते। क्योंकि इन क्रियाओं का उनको स्वयं अभ्यास नहीं। इस प्रकार ऐसे लोगों में पड़ कर मनुष्य भटकता रहता है और अपने ध्येय तक नहीं पहुँच पाता है। वास्तव में यह शरीर दुर्गुणों की खान है। महात्मा कबीर का कथन है कि:—

यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान।
शीश दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान॥

यदि हमें ऐसा गुरु मिल जावे जो अमृत की खान हो और अपनी पावन इच्छा शक्ति द्वारा अभ्यासी को अमृत का पान कराता

रहे तो शीघ्र ही वह दिन आ जाता है कि विषैलापन दूर हो जाता है और आध्यात्मिकता के मार्ग में तीव्रगति से, बिना अधिक परिश्रम के चलने लगता है। केवल हमारी श्रद्धा, विश्वास एवं गुरु की कृपा ही आध्यात्मिकता के मार्ग के रोड़ों को मिटा देती है। सद्गुरु का मिल जाना ही सब कुछ मिल जाना है। अतः इसकी प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए, कि हमें सद्गुरु मिल जावे जिससे जीवन सार्थक बन जावे।

उपरोक्त कथन का पुनः स्मरण करते हुए यही कहना है संसार में जीवन-मरण, यश-अपयश लाभ हानि लगी ही रहेगी। हम माया में जितना ही लिप्त होते जायेंगे उतनी वह भी अपने साथ लगी रहेगी और अनेकों समस्यायें लिए हुए एकदिन इस संसार से चला जाना पड़ेगा। जहां पर योगेश्वर कृष्ण, एवं मर्यादा पुरुषोत्तम राम हुए, जहाँ से संसार ने सभ्यता पाई, जहां वेदों का गान हुआ जहां से आध्यात्मिकता का अभ्युदय हुआ उसमें जन्म पाकर अपने को सौभाग्यशाली समझें और अपने वास्तविक ध्येय को पाने के लिए सद्गुरु की शरण में आकर सहज मार्ग का अनुसरण करके ईश्वर की प्राप्ति करें। ऐसे देश में जन्म लेने पर इसके लाभ से वंचित न रह सकें, अपने जीवन को सफल बनावें।

Way to peace

(Shri Ram Chandra Ji, President.)

The world today is in a state of extreme unrest. Everyone is crying for peace and rest. But all the efforts for the establishment of peace are merely external, touching only the outer aspects, where not an iota of peace can ever be traced out. As a matter of fact, peace is almost an impossibility unless mental condition is taken into account. We have really to seek for it with in ourselves, and for this alone one has to trace out proper means, if we are really earnest about it. In a word the real peace can be achieved by developing the real Light within. Every thing around will then look to be calm and peaceful when the mind is at rest. For the attainment of of peace we have therefore to mend and correct our mental condition only. This having been done, every thing outside will then appear to us in the same colour, reflecting peace and calmness all round. This is the only way for bringing about peace into the world. Thus it becomes essential for everyone to develop peace of mind within the individual self.

Numerous means are adopted for the purpose but the essential features seem to be sadly lacking everywhere.

The primary factors for it are Love, Service and Sacrifice, for which it is necessary to have the mind moulded accordingly. The regulation of of mind is therefore the basis of every Sadhana. The mind which in its primordeal was pure and regulatad, has. in its present state, been spoiled and polluted by the effects of our thoughts and actions. It is now our responsibility to mend and correct it, and all sadhanas must have the same purpose at the base.

For that, as a rule, association with higher souls is highly essential. We must therefore seek for a worthy guide to lead us along, applying his own powers through yogic Transmission or pranahuti. This is the only effective course for bringing about the desired results. If such a one is available, the work can be accomplished in no time and with the least labour on the part of the abhyasi. But for that there must be the real craving in his heart.

There are two aspects of Sadhana — one, the abhyas and the other the Master's support through Pranahuti. The abhyas is for the purpose of developing conditions required for the purpose and that involves self-effort. But self-effort is not all and enough. It must be supplimented by the Divine Grace. The Divine Grace is diverted towards the abhyasi through the

medium of the Master alone. Thus the real thing in the pursuit is the Divine Grace for which the medium of a real Master is indispensable and abhyas is only the means for making one's self deserving. In Sahaj Marga the Divine Grace is directed towards the abhyasi through the process of Pranahuti. In fact what the Pranahuti does for the uplift of the abhyasi, in the shortest possible time, the self-effort can not, even in the course of a full decade. Serious difficulties often come in when meditation is practised independently in accordance with the old methods picked up from books. In that case one has to keep on struggling with the mind inorder to suppress its unceasing activities. Thus all the time devoted to practice is lost in stuggle and there is practically no meditation atall. In order to overcome this difficulty, we, under the Sahaj Marga system, simply connect ourselves with the Master's-power, whose mind, senses and faculties are all throughly disciplined and regulated. His power then begins to flow in, regulating our tendencies also. This is as a matter of fact, of primary value in the abhyas.

I do not thereby mean to advocate in any way the orthodox idea of Gurudom. In our Sanstha we take it in the sense of common brotherhood in a spirit of service and sacrifice, helping each other when occasion arises.

The selection of a worthy Guide is no doubt a difficult job,and slightest error in this connection may be disastrous. From my life experience I may give you an easy way. When you happen to be in contact with such a one, try to judge whether or not, his association promotes in you a feeling of calmness, silencing the vrittis for the time being atleast. If it is so, the man is really fit to help you along in the solution of your life-problem.

A Happy Exchange

(Shri Ishwar Sahai)

It is pleasant to find one, inspired with filial devotion to the Great Father - The Master. Happy are those who are gifted with a deep feeling of the type. The master is no doubt eager to give away his all to anyone and the filial relationship encourages one to have it all in full. Several times he has expressed it like this, "I wish you to rob me of all that I have and in return to give me that which you possess as yours." What a large and benevolent heart, the Master's is.

Let us now come to a full understanding of the real sense it conveys. Apparently it seems to be a sort of exchange, hence nothing remarkable

or extra ordinary. Now taking into account what that might be which he wants of us in exchange, we are in a fix. At another place he has denoted it as 'Our belongings.' That is what he wants to have of us. What does 'Our belongins' refer to ? Does he mean thereby to refer to our wordly possessions, by way of wealth, property, fame, power and authority ? Does he mean to take from us all that, and to reduce us to mere paupery ? If so, then it concurs closely with the old view—Get off from the world, give up your possessions and wander about begging for alms for your daily maintenance. That is exactly what is given out as the first step towards God. If it is so, I think few perhaps might be inclined to accept the offer put forth by the master. What is it then ?

Let us consider seriously. The master wants to have all our belongings in exchange. What are our belongins which he means to refer to ? is it wealth, property etc., as it may likely appear to be at the first sight ? Certainly not, because these are not infact our belongings. They had previously been in the possession of another and after some time they shall again pass on to still another. For this reason they can never be claimed as our belongings though they have been in our temporary possession for the period of life—an insigni-

ficant part of our entire existence, which continues even after death.

We go on thus, passing throuth lives, loaded heavily with all belongings. What may be that we carry through life after life ? It is that we have gathered all through during the course, in the form of sanskaras, which constitute our numerous coverings of grossness, in the form of the tiny universe of the individual self. That is infact our belonging which we carry along with us, but which we have finaly to part with in order to relieve us from our encumberence to the last possible degree. But why so after all, The Master alone may know.

Now let us think about that which we are to have from him, or to use his own words to rob him of. It is pease, bliss, freedom which are with him as his and which he wants to exchange for our sufferings, sorrows and sins, which are ours, in the form of sanskars. What a peculiar bargain, but the Master is madly after it. Why ? He alone may know. He is the master and the Saviour and it is all his grace and benevolence. That is all one can say.

Now the question comes in, how can one rob him off — to use the Master own term. There

is no doubt tha' the Master is always over-zealous to give away all to his devotees. But who is the devotee ? For sure, not one who feels and know himself to be so, nor one who claims to be so; nor even one who tries to be so. What then ? Only a devotee might well understand. is it poss b!e to claim it of him on the grounds of love devotion and surrender ? Not even that. What then ? He who is, may alone know.

For the solution of the mystery, we may take the other part of it aswell, viz, to give him that which we possess as ours. That means we must deliver goods to him and be as light as possible. What is to be deliver has already been discussed. What may now be the means for that is the next point to be considered over. The crude process for giving up involves forced physical detachment form things essential for our maintenance which has no spritual value. Rather it is only a change of profession for avoiding responsibility. in the stuggle of life. Thus instead of securing our necessities by self earning one secures it by begging; that is all. The hankring after wor'dliness persists as usual and at the bottom of the heart one remains clinging to it just as before. Since necessities of life can never be wholly dispe.ced with, it is in all fairness, but proper to earn

than to beg for. Religious mendicancy may thus be only a fraud, completely devoid of the real sense of Vaeragya.

In true sence vaeragya refers to non-attachment and not to non-possession. To think that non-possession leads by itself to non-attachment is only an absurd idea.

We have in short to give up, after all. How that may be accomlished ? the only process is that of negativating one's self and that is definitely the abhyasi's job. With the development of negation the process of 'giving up' and 'taking in' as hinted at by the Master commences by itself even without the conscious awareness of the abhyasi.

Now to sum up, I may say that it is self-negation alone that promises the fullfilment of the Master's wish quoted above and the abhyas is the means for bringing it into effect. The Master's grace is always there but only for him who invites it Submisson, obedience and attachment are the means to develop love, devotion and surrender. Thus in a wordthe abhyasi too is not free from of ob on the mere presumption of the responsbility being the Master's dovotee.

——

BELOVED OR LOVER ?

(Shri Raghavendra Rao)

Sri Krishna's peace Mission had failed. Krishna, Yuddishtara, Bhima, Arjuna, Nakula, Sahadeve and Panchali were sitting together in a serious mood. Yudhishtara was coaxing Krishna to find out yet some way to avoid the ghastly war. Bhima, Arjuna and Panchali were very impatient with the eldest of the Pandavas for his pacific attitude. The two youngest brothere were just watching the elders. At last Sri Krishna asked the youngest of the assembly, Sahadeva, "Young man, why are you keeping quiet ? Is it possible to avert the coming fratricidal war ?"

Sahadeva replied with folded hands, "Sir, What can I say ? I am ready to follow whatever you cammand."

Sri Krishna did not leave him at that, "Even the young sometimes get very bright ideas. I give you liberty to speak quite frankly. Do you feel that the coming war can be averted ?"

"Yes, Sir."

All eyes were turned towards him ... ...

"How ?"

Sahadeva again kept silent. Then Sri Krishna said, "You appear to have got some bright idea. Do not feel shy. This is a very important situation. Without any fear or hesitation speak out your mind." Then Sahadeva folded his hands and bowed to the assembly and said, "Sir; in my humble opinion the fundamental requisites of war are two parties ready to fight and planning. Yudhishtara does not want to have war. Hence if the following measures are taken there will be no war:— Break the weapon of Bhima and the bow of Arjuna so that they may lose their arrogant confidence in their weapons. Let Panchali have a tonsure so that she may not repeat her cry for vengeanceful wish to smear her head-dress with the blood of the Kowrawas. And finally, my lord, as you are the real planner you must be firmly bound."

All were taken aback with this blunt realism. Sri Krishna smiled and said, "Well, Sahadeva your plan is really bold and imaginative. It may work even. But there is a catch in it. If you prevail upon them it is possible to carry out the first two tasks, namely the breaking of the deadly weapons of your brothers and shaving the head of Panchali. But how can anybody arrest and bind me? Even Duryodhana could

not arrest me in his own royal palace with all his force at his command."

Yes, it was indeed extremely difficult.

But Sahadeva calmly replied, "Sir, I shall do if you permit."

Once again there spread a wave of surprise Sri Krishna smiled and said, "Yes, do it. I permit you. Let me see."

Sahadeva took his seat, closed his eyes and started to meditate on the auspicious form of the Lord of his heart, with intense love and devotion. The whole atmosphere began to change. Yudhishtare forgot about war. Bhimasena, Arjuna and Panchali forgot all about their vows and vengence. Nakula was already lost in beholding the bewitching form of Lord Krishna. Sri Krishna himself began to feel that all his plans regarding the destruction of evil forces were likely to get upset. He was feeling bound and dragged towards Sahadeva by the strong force of his intense love. He could not allow it to continue longer. A little longer, and the whole universe would have entered into the heart of the Yogi? So Krishna said, "please stop your meditation. As you love and revere me so much, will you please promise me something that I request of you?"

Sahadeva opened his eyes and said, "My Lord, It shall be as you wish. I am ever ready to obey your command."

Then Sri Krishna said, "Promise that you shall not do such meditation once again without first obtaining my consent."

Sahadeva promised. So the battle of Mahabharata started and the Lord fulfilled Himself.

Dear readers, this is a fictitious story. At certain stages of spiritual growth the devotee gets mastery. For such a one nothing remains impossible. The Beloved Himself becomes the lover of such a devotee. How beautifully Kabir has expressed this, "peeche peeche Hari phire Kahat Kabir Kabir!". (पीछे २ हरि फिरें कहत कबीर कबीर) Another poet has conceived it thus, "Khuda Khud Bande se pooche, bata theri raza kya hai."

(खुदा खुद बन्दे से पूछे बता तेरी रजा क्या है)

My Master of this World & Beyond

(Ram Chandra Saxina)

He had just returned from a tour of south India. On return from there, he felt a great need of establishing some institution. Though, he was of

the opinion and I think, still holds the view that the spiritual training can be imported even under the shade of a tree. For this type of school, nothing else is needed except that of a teacher and a taught. But the best which I like in him is his adoptability to the demand of the present hour. Every where in south, he was asked which institution you belong to', 'what is the name of your mission', and such other questions. So, on return, he naturally thought of filling this gap and Papa was there to translate his ideas into action. Rules were framed, bye-laws were made out and all the preliminaries as required by law were completed and I and Hari went with the papers to the Registrar and the institution was registered Thus, was founded an unique institution–Shri Ram Chandra Mission, Shahjahanpur, U. P. (India) after the name of Samarth Guru Mahatma Ram Chandra Ji Maharaj of Fatehgarh– the Master of my master, by his chosen representative ShriRam Chandra Ji Maharaj of Shahjahanpur– my Guru.

Now, whenever, I was at Shahjahanpur and was very much there, I used to visit the place, which was nothing short of a pilgrimage to me, every morn and evening. Hari was also a regular visitor. My master's Master, the Samarth Guru

Shri Ram Chandra Ji Maharaj of Fatehgarh, U P. was universally known as Lala Ji. I and Hari thought of naming our Guru-Dev and after some thought decided to call him 'Babu Ji'. We cunsulted Papa for this and he readily agreed. We started calling him 'Babu Ji' and to-day, I feel so happy and elated when I see that the Master of so many, in my view of the world, of the universe, is called Babu Ji, by all and sundry. In those days, 'Babu Ji' used to think alouds and his thought were being written. He said so many things which at that time we could not quite understand but later on we found that so many of those were his forecasts. Once he had said "Hayderabad will be on more. There will be No Nizam." At that time, we could not make a head or tail about it but to-day we find Hadrabad and the Nizam of the old are really no more. There are so many things like this but finding that the Narrative is becoming longer every minute, I am not reducing them in black and white.

My timing of going to him in the evening was about 7 p. m. Papa and Hari also used to come practically every day. Bhai Sahib was invariably found there. We used to meditate and he used to transmit each day. In fact, every minute of his presence with us every word he spoke, gave his

transmission and really it was. Those were summer days; in the night, we used to sit in the open (Mind you, the hoouse of my Guru is quite spacious, quite big as his heart is magnanimous and great and big). He use to lie down on a cot, we used to sit on chairs around him. Papa and Bhai Sahib used to go away near about 10 in the night. We used to remain behind, I and Hari. None talked. All was quiet. Readers, I can not explain to you the peace, the bliss, the calmness in atmosphere the pleasure, the mirth we had during the period, we passed like this. It appeared as if the whole atmosphere is charged with strong spiritual energy and from every nook and corner, from below, from above, from every where there was trasmission and transmission. We forgot every thing, we were mostly thoughtless. None was sleeping, yet the state in which we used to be was quite strange, not easy to describe. So, thus, we used to sit quietly bathing in the spiritual bliss and the time passed, I can not say how quickly. An then we used to bid good night and start for our respective houses. I and Hari both engulfed in that spiritual bliss used to walk home togather and dear friends, I tell you a complete truth that our feet while moving used to go astray as if we were quite drunk and were under heavy intoxication, In such a

state, we used to reach home, some-times at mid night, sometimes, even later. The rapture and mirth experienced those days is beyond description.

Manwhile the Mission was growing, activities were increasing. People who came to know of it and who were interested in the least in spiritualim, had started coming like moths to the light. A few years after, Mata Ji, the wife of Guru Maharaj fell ill and then I saw Babu Ji attending on her during her illness like a devoted husband doing every thing possible to redress her troubles. But with all the medicines, all the nursing, it looked that the end was drawing near.

At last, the dreaded end come and she passed away. Cremation took place. All had returned back and now people thought of arranging fooding etc. to the bereaved family. Babu Ji was sitting quietly in the sitting room. One of the brothers quietly approached him with the request that he should partake of some food as he had taken nothing, whole of the day and the previous night. To the surprise of all, he agreed very readily. When the food was brought to him he ate heartily. Some body dared to ask him the question "Babu ji, at such a time of grief, you have had your diet quiet heartily." Pat came

the reply "I am happy that as a husband I have done my full duty to her both materially and spiritually. She has gone a free soul." What a great example of detachment and attachment ?

Talks on Efficacy of Raj yoga

(Continued from Previous)

(Dr. K. C. Varadachari)

Master clearly shows that the entire mind of man is filled with ideas but these ideas are ideas of portions of the body, such as liver, lungs, intestines and stomach or abdomen and so on So also we have ideas of physical feelings as to how these organs feel or act or need. All these ideas are those which spring up from the heart. In a sense we can say that our heart is the alaya-vijnana or the recepticle of all impressions which are of solid objects and organs. Thus the present content of the heart is just these physical bodily ideas and no more. The consequence is that we are being governed by these ideas alone and all our actions proceed from these ideas and regulate them. Therefore we are said to be caught up in the karma-cycle or determined by karma. Thus the heart is thus central to our present life.

But the subtle condition of the heart is what we have to note. The heart being the main artery of God through which the idea of Creation is working as an invisible motion, true, each individual heart is also a unit uniquely issued out of the Centre. The power that is working at the Centre is also manifested as the units though the same super consciousness is working in a limited way though the word limited does not mean that it is necessary for it to be that. Limitation 'Master says' is not due to anything from above but is what has been a result of the individual solidification owing to the identification with the body or perpetrating the ideas of the body which are its rings of bondage or limitation.

Master describes the emergence of the units from the Centre as shower or fire-sparks forming a big vast circle, a view which is echoed in the Upanisads which describe creation as the sparks from a centre. The whole universe is thus a projection or throw-out, thanks to the invisible motion under the Centre. Each unit however develops its own individuality whilst yet retaining the nature of the invisible motion of the origin. Surely also it can be said that these units are eternal in the sense that they are permanent till the final dissolution or withdrawal.

Surely problems of concern will be raised by those who wish to uphold the view that the units though withdrawn into the Centre remerge at the next creation. This is a point which is more a logical one rather than practical. As the Kathopanisad says, the soul or unitexists even at the final mergence is in a latent condition. The meaning of exists is however logical since we cannot think of the extinguishment of the soul when it begins to emerge. The question is again one of its becoming once again a bond after having attained freedom in the previous sristi or creation. There is also another problem posed whether pralaya is itself liberation and since in any case it will happen one need so no abhyase to attain it much earlier. If we answer these in one way there arise another set of problems. It is advisable to defer these questions of pseudo-philosophers till certain major results have been attained.

In any case in spritual life the most important thing is to achieve pralaya for oneself or one's dissolution. This appears to be quite a shocking proposition. To ask any one to commit suicide is sheer folly. However after the first shock effect of this advice let us ask ourselves what it really means to know the Ultimate which is our goal and what it means to realise it or rest

in it. It means that one would merge one self in it and live and move and have one's being in it. Oneness with it or even one's losing oneself in it. Practically then the dissolution of one's separateness is sought after. Mystic union is this dissolution of both the individual and the universal or at least of the individual in the universal. Spirit or the Godhead or the beloved, even without a trace of oneself even. It may be true that this does not utterly happen until the final creative pralaya. All these are to be matters of verification (anubhava). Sri Ramchandraji does not enter into the metaphysical problems to say that the soul is eternally distint or entirely lost as such. However whilst suspending the anwer it can yet be taken that our goal is to attain union or pralaya in God or the Ultimate or Centre.

It is best to take it whatever the status of the relationship in pralaya or reemergence (srisi), it is one of indissoluble oneness or inseparability between the Centre and the units.

The Heart is peculiarly separated from the First Mind and Centre owing to the limitations imposed by the grossening or heating of the particles and the formations of cakras or brackets of resistance take place interfering with

the free flow. The Heart Region it has been said extends from almost head to foot. Sri Ramachadraji reveals that this vast region is divided and pushed on by the several senses. This huge Heart Region can be divided into two halves, the upper and the lower. The lower heart region contains several functionaries of Nature or power which they carry out according to the law of nature of each. The need is to clear oneself of all those particles of matter which in a sense form the brackets of the area of thought-force bringing into being the knots of resistance and bondage and also creating agitation, complexity and confusion. When these are some how overcome and one passes beyond the Heart region one attains calmness, simplicity and plainness. Infact, it is seen that the individual himself begins to perceive all the heart region itself when it has been crossed over as a region of calmness, plainness and simplicity because he begins to see all from the point of view of Nature.

The cleaning of the heart Region becomes very important. Taking the centre of the Heart region we find that it falls about the physical heart. The Master's great discovery is of the two points A and B in this region. The point A is

given by the Master in actual measurement. It falls within the region of the physical Heart itself. " Measure from the left nipple to the right two fingers width. Then proceed to measure downward three finger widths. This is the point A. Measure two finger widths downward from it we have the point B. The Master locates it at the lower part of the left lung. These two points in a sense can be seen to be in the upper part of the fleshy region of the Heart. Master states the upper parts of this heart is the brighter one and the darker is the lower one. He also suggests that there is a point in between A and B which is of greatest consequence but it is not to be revealed. These points A and B (which are incidentally just above the lowest rib) have to be cleaned. The cleaning is a process done by the transmissive power of thought by onself or by the master. It is clearly a case for the concrete prevention of extraneous impulses entering into one's heart region and upsetting its equilibrium A complementary portion is to throw out the already entered impulses which begin to settle in the heart as so much dirt and dust in the form of the particles. The two processes are complementary.

Universal Mission

(G. Dattaraj Nartak)

I remember to have summarised in one of my letters the whole system of Sahaja Marga, by saying that "You think of the Master and he will do the rest", One while stepting in the Sahaja Marga should try to become a man possessing nothing of his own in him either in his mind or at his heart. He should become a Fool. He should tear-off the naughty screen of wisdom and knowledge which separates him from the "Almighty Master", "Sahaja Marga with its Ten commandments which is the quintessence of all the religions, is the only workable scientific way of spiritual life, which can be followed by men of any walk of life easily", "The Real solution for the peace in this present world of Social, religious economical and political complexities, is in the "Sahaja Marga".

The grace and Divinity of Sahaja Marga system is not merely confined to its abhyasis but is extended to the whole of the universe like an epidemic disease. To think that only the members and abhyasis of Sahaja Marga will get the grace of the Master is very low-thinking. The

Master is not the Master of only the members of Shri Ramchandra Mission, but he is the Master of all spiritualily in the realsense, ard the real spirituality is in him. My Master is not only purifying the Abhyasis of the Mission to make them reach the real Goal, but is making them able to work for the good of the entire man kind. Therefore let Abhyasis of Sahaja Marga not think of their own emancipation, alone, but of every being. There should be no doubt about it. I feel like saying that perhaps Master desires us to pray for the good of the innumerable sorrow-ridden humanities living around us. We sadhaka sshould feel this as our duty and responsibility placed by the Nature upon us. We can become real followers of Sahaja Marga only, when we become like the various organs of this Universal Mission and spread the Divine message of our Master and contribute our share in the Great Task of the Master. This is how we can become the dutiful children of the Master in enlarging and entrancing the Divine work.

Now a question arises as to what abhyasis can do apart from performing their own abhyasa i. e. medidating, and following the principles of Ten Commandments. Really the abhyasis have to do nothing else than following strictly and

sincerely the Ten commandments in our practical life. The more sincere one becomes in practising the Ten Commandments in day to day life the more we create the univereal affinity in us, which in the real sense is nothing but fulfilling the Master's desire and Nature's i. e. God's desire. Abhyasis practical life will naturally pave the real spiritual way to others and Gurudeo is there to pick up any human being and put up on the way, only if one peeps into Sahaja Marga just to know what all this is sadhakas need not think of anything else or even be afraid of anythipg in shaping up of our lives the embodying the Ten commandments. The Divine work of the Mission is very carefully, and systematically conducted under the direct supervision of My Master. There are trainers and preceptors for our care and guidance and assistance. What the trainers are. They are spiritual helpers to the abhyasis, and spiritual slaves of My Master. That almighty Master nurses and feeds his spiritual children through these trainers and preceptors. They always clean your dirt. They almost do the duty of a cleaner. They are the limbs of that almighty architect of this universal Sahaja-marga and have been entrusted with responsibility of carrying out multifarious duties, of cleaning the sankaras of

the Abhyasis, My Master dynamically resides in them and the power in them can transform us into the Divinity in no time provided we deserve that because the power that works in the preceptors is nothing but the Grace of the Master. Master is only the beginning and end in the Sahaja Marga system. The proof of this can be experienced by coming over to Sahaja Marga. This for a beginner seems to be fantastic and even untrue, but the yogic transmission of Sahaja marga proves on the very Ist Day that everything that is told above is correct. Peace and satisfaction creeps in even if one denies it. As we advance in this line every other way or means supposed to be meant for the spiritual advancement in this world seem to be either vague and misleading, or incomplete means to reach and be one with God.

With my megre experience I can dare say that the Ten commandments, which guide the life of every bretheren of this august Mission are very simple and complete. By their adherence we can bring a great revolution in the present world of religious, cultural, economical, social and political complexities and can transform the whole into a perfect and peaceful society. This is how Sahaja Marga leads us to the Universal brotherhood in both the material and spiritual sense. It

was in this context that I have once said that no conferenc of the powerhungry politicians can do any good to the world. The Real solution for human peace and equilibrium is found at Sahaja Marga.

When My Master picks up anybody as his spiritual child, there end all the problems of that person. He is away from the bondages of life and death and can be one with God by the grace of My Master . But what essentially is required in this is a Firm Faith in My master, and thus to be Carefree. We should be very sincere in our efforts and should be very careful in being carefree, lest one may become irresponsible. To be Care-free and to become fully surrendered to the will of the Master without having anything one's own is certainly a very difficult job and cannot be achieved without firm faith in the Master. If we have unflinching faith in the master he takes us to any state of spirituality. If the Full faith is there the rest is master's work. Faith makes one to surrender to the Master's will. Then we simply become the means to fulfil the desire of the Master and he naturally does his Divine work through us.

The sanskaras are the worst enemies of a man in the spiritual pursuit because they always drag us into one or other ditch and make us cling

unnecessarily to one or other problem of the life. This store of sanskaras is to be exhausted and Sahaja Marga offers us easy means for that when they are cleaned mostly by the force of Master. In a way we become more and more dependent on the Master, and more and more sure that the wish of the Master plays the vital part in our material and spiritual life. This is how the egoism in us disappears and firm Faith in the Master becomes permanent and natural in us. Of course the Master watches every change in every of the Abhyasi at all times, and dynamically guides us. I do not know how it happened, but it was too late when I realised that I was at the Holy feet of my master completely surrendered. I thank my blind faith on the master, which created the spiritual eye in me and now the Divine ways of my Master are clear to me. By his grace I experience perfect peace and satisfaction (equilibrium) and have cultivated Firm Faith, love and Devotion towards Master. This is what My Master has kindly bestowed upon me. I feel that I am reborn. So the future of this humble servant and slave of Gurudeo Ramchander ji Maharaj, is in the hands of his Master. I very happily desire to declare my feelings but I do not know how exactly I should do it. I feel that master is in me, yet I experience

that I am at the Holy feet of master very humbly craving and praying for the realisation. The next moment I feel the presence of Master all around, in and out. This proves that realisation is not far. Yet the fact remains as it is. I am here sitting within the Heart of my master keeping Him in the inner core of My Heart. This is how I am in between the one-ness and nearness.

Heart & Meditation.

(Dr. L. P. Srivastva Fatehgarh)

Man is a bundle of weaknesses. There is a germ of super humanity in every man. The change from man to superman demands utmost efforts although the man possesses a power swiftly to make the change. The success will remain beyond his reach as long as he is half hearted in his endeavour. The aspirant must evoke all powers of soul and direct them with utmost sincerity and will to the sublime objective. Insincerity is a great hinderance on the spiritual path.

Our Mahatma Sri Ram Chandra ji Maharaj of Fatehgarh was once a man who ascended the heights through the steep, strait narrow way and reached the goal through self-mastery. Sup-

er-men are thus an assurance to every man that goal exists and is attainable and there should be no doubt about it. Reward beyond telling is theirs who have attained. Illumined they become light-bringers to mankind and teachers to those who have eyes to see and ears to hear. Aid awaits you, it calls you. Your Teacher is near you, watching you. Look not back but forward. Seek which is real, the spiritual life with its everlasting bliss and peace. The worldly life is nothing but fleeting joys and temporary gains. So make a choice yourself and join the rank of those who have achieved a success on spiritual path. The Sahaj Marg is being shown to you and you need put your first step on it to proceed forward through Meditation under the guidance of GURU with utmost faith and deep sincerity.

My today's topic is to give a brief talk on HEART, a medium for Meditation. Meditation has been advocated at several places such as Trikuti, Heart, Tip of nose etc. In Sahaj Marg, the Heart region (Hirdaya Akash) has been selected for the practice of Raj Yoga. In reality it is a vast circle covering nearly the whole of the body inner and outer. Much has been said in the Efficacy of Raj Yog.

Before coming to the actual subject as to where the meditation would be natural and at which region it is to be performed, it is desirable to describe briefly the details of the HEART, which is an almond-shaped muscular organ. Its work is pumping of blood and it is situated more to the left side and only one-forth of it lies in the right side behind the chest and in between the Lungs. Heart beat may be heard at several places in the body, chiefly a little below the left side of the nipple. The heart is roughly divided into four chambers, two upper and two lower. The upper two parts are known as right and left auricles and the two lower ones as right and left ventricles. The heart beats at an average of 72 beats per minute. From the left ventricle the purified blood goes to the arteries through Aorta and then to every part of the body through capilaries and finally reaches the lungs to be purified again from the right auricle and the right ventricle. The blood gives its waste and impurities. This is something about the heart and the circulation of blood.

The Sat-Sangis are told while practising meditation to think that the impurities are driven away from the back side and as such it becomes clear that this practice is very beneficial natural & also identical with the circulation as

described above. The Meditation begins at Heart and the purification starts; thus the whole of the body becomes light, purified and realization starts. The above process also derives much benefit from the Pran Ahuti or Transmission. The Hindu Philosophy also supports that ATMAN resides in the Heart Region (Hirdaya Akash), and the God being omnipresent is also present in the Hirdaya Akash or Heart Region and thus the Heart becomes the meeting place of Atman and Parmatman.

Morecver super-conscionsness lies in the heart and Sushupti is a part of it; still further heart region is a central place for love and faith (Prem & Vishwas) and realization is not possible without love and faith and as these two things are found only in heart hence the heart region can only be the safe place for Meditation.

Lastly Mana, which is a means for the realization of Jiva Atma, is also connected with the Hirdaya Akash thus again the Heart Region comes into picture.

That is why, in Sahaj Marg, heart region (Hirdaya Akash) has been selected for the practice of Raj Yoga.

—:☺:—